# रघुवंशम् : एक विश्लेषण

रघुवंश – एक विश्लेषण, डॉ. देवीदत्त शर्मा, देववाणी परिषद्, नई दिल्ली से साभार

**रघुवंश की भावचित्र योजना**

माधुर्य : वशिष्ठाश्रम की यात्रा के प्रसंग में ही कवि ने किस सरलता के साथ इस स्नेह से पगे मधुर भाव को उपस्थित कर दिया कि राजा दिलीप जिस क्षेत्र से होकर जा रहे थे वहाँ के बूढ़े–बूढ़े घोषी ताजा मक्खन लेकर उनकी सेवा में उपस्थित होते थे और राजा और रानी उनसे मार्ग में पड़ने वाले लतावृक्षों के बारे में पूछने लगते थे। अकृत्रिम स्नेह और आदर का कैसा मधुर आदान–प्रदान है। भाव की सरलता ही हृदय को मोह लेती है।

स्नेह और विश्वास : इसके आगे ही वशिष्ठाश्रम के स्नेह, शान्ति, पवित्रता और विश्वास का जो रूप प्रस्तुत किया है वह तो पाठक के हृदय पर इन सबकी एक अमिट छाप छोड़ जाता है। स्नेह और विश्वास का क्या ही अलौकिक रूप है। 'तपोवन के मृगों को ऋषिपत्नियों से इतना स्नेह और वात्सल्य मिला है कि वे तिन्नी के दाने खाने के लिए सायंकाल को उनकी पर्णकुटियों के द्वार पर लाड़ले बच्चों की तरह रास्ता रोके खड़े हैं। पक्षी निश्चिन्त होकर जलपान कर सकें इसलिए ऋषिकन्याओं वृक्षों के थाँवलों में पानी भरकर वहाँ से दूर हट गयी हैं। कुटियों के आंगनों में सुखाने के लिए फैलाया हुआ अन्न सायंकाल के लिए समेट दिया गया है और हरिण उनके पास ही बैठकर बड़े प्रेम से जुगाली कर रहे हैं।

तपोवन के पावन स्नेह और विश्वास की ऐसी ही कमनीय योजना हुई है पंचम सर्ग में भी । 'सर्वस्व दक्षिणयाजी' महाराज रघु 'गुरुदक्षिणार्थी' कौत्स से पूछ रहे हैं–'हरिणों के वे छोटे–छोटे बच्चे तो कुशलपूर्वक हैं न, जिन्हें जन्म से ही ऋषियों का ऐसा स्नेह प्राप्त है कि उनके नाभिनाल भी सूखकर उन्हीं की गोद में गिरते हैं और वे उनके इतने लाड़ले होते हैं कि यज्ञ के लिए बटोरी हुई उनकी कुशा को खा जाने पर भी वे उनसे कुछ नहीं कहते।

किस प्रकार की बिम्ब–योजना के बिना ही ऐसे शान्त और स्निग्ध भाव की सृष्टि कोई अन्य कवि कर सका हो, ऐसा स्मरण नहीं आता। आज के छल, कपट और अविश्वास से भरे हुए मानवलोक को देखकर मन ललक उठता है पावन स्नेह से लबालब भरे हुए इन तपोवनों के दर्शनों के लिए। 'तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला' की भावना तो एकदम अद्भुत है। सहृदय पाठक के मन पर सदा के लिए एक अनिर्वचनीय स्नेह और विश्वास की भावना को उभार जाती है।

सेवा–भाव : किसी भाव–योजना के लिए उसे किसी प्रकार के लम्बे–चौड़े वर्णन वा अलंकार–योजना की आवश्यकता पड़ती हो–ऐसी बात नहीं। वह तो थोड़े और सरल शब्दों में ही भावों की सुन्दर योजना कर डालता है। राजा दिलीप किस एकान्तभाव से नन्दिनी की सेवा कर रहे थे, इस बात की अभिव्यक्ति कवि ने उनकी चेष्टाओं का वर्णन कर दी है –

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेवतां भूपतिरन्वगच्छत् ।।

अर्थात् जब नन्दिनी खड़ी हो जाती तो वे भी खड़े हो जाते, वह चलने लगती तो वे भी चल पड़ते, वह बैठ जाती तो वे भी बैठ जाते और जब वह जल पीती तो आप भी जलपान करते। इस प्रकार राजा दिलीप छाया की भाँति उसका अनुगमन करते थे। कैसा सुन्दर भावग्राही चित्र खींच दिया है एक ही छोटे से श्लोक में दिलीप की अनन्य सेवा–भक्ति का ! भावचित्र सीधे मन तक उतर जाता है और दिलीप के भक्तिभाव की एक गहरी छाप छोड़ जाता है।

भाव तीव्रता के लिए विरोधी भावों की एकत्र योजना –

किसी भाव को गहरा एवं स्थायी रंग देने के लिए कवि प्रायः परस्पर विरोधी भावों की एकत्र योजना करता है। जब एक ओर हम दिलीप के प्रताप, ऐश्वर्य और दिव्यगुणों की बात सुनते हैं। और दूसरी ओर सन्तति के अभाव में गुरु वशिष्ठ के समक्ष अति आतुर भाव से उसे यह कहते सुनते हैं कि मेरे बाद पिण्ड और तर्पण की क्रिया का विच्छेद हो जाने के भय से मेरे पितर मेरे द्वारा दिये गये श्राद्ध के अन्न को भरपेट भी नहीं खा पाते होंगे। वे उसका आधा भाग बचाकर रख लेते होंगे। मेरे द्वारा दिये गये तर्पण के जल को गर्म–गर्म आहों से कोसा कर लेते होंगे। आदि तो हमारा हृदय उस सन्ततिहीन दुखिया के प्रति करुणा और सहानुभूति से भर जाता है। यहाँ पर कवि ने इसके कारण अन्त तक अव्यक्त रखकर रचनाकौशल का भी अच्छा परिचय दिया है।

ऐसी ही स्थिति उत्पन्न की है पंचम सर्ग में भी। रघु सर्वस्व दक्षिणयाग कर चुका है और इसी समय गुरुदक्षिणार्थी कौत्स भी चौदह हजार सुवर्णमुद्राओं की कामना से वहाँ आ पहुँचता है और 'मृत्पात्रावशेष' रघु को अपनी अर्थपूर्ति के लिए इस समय असमर्थ देखकर कहता है–आपके पास तो अब कुछ है नहीं, इसलिए अब मैं गुरुदक्षिणा के लिए किसी और दानी का द्वार खटखटाता हूँ। क्योंकि जलहीन बादल से तो पपीहा भी जल की याचना नहीं करता। अच्छा ! भगवान् आपका कल्याण करें'। यह कहकर जब वहाँ से जाने लगता है तो हमारा हृदय एक गहरी व्यथा की अनुभूति करने लगता है। इस पर रघु उससे अनुनय करता हुआ कहता है कि 'मैं इस लोकापवाद को सहन नहीं कर सकता कि कौत्स जैसा शास्त्रपारंगत ब्राह्मण रघु से गुरुदक्षिणा के लिए धन न पाकर किसी दूसरे दाता के द्वार पर गया। इस दशा में भी स्वाभिमान का रूप कितना जागृत है।

वस्तुतस्तु रघु के ये भावनापूर्ण शब्द ऐसे है जैसे कि मानो हमारे ही मुख के शब्दों को रघु ने छीन लिया हो। कौत्स को इस प्रकार निराश लौटते देखकर स्वयं हमारा हृदय इसी प्रकार के भाव से भर गया था और इस अभिव्यक्ति से उसे एक प्रकार की सान्त्वना सी मिलती है। और फिर दान के समय की घटना तो संसार के साहित्य और इतिहास में अद्वितीय ही है। उस दिन अयोध्यावासियों ने अपनी आवश्यकता से अधिक एक कौड़ी भी न लेने वाले याचक तथा उसकी आवश्यकता से भी अधिक देने के लिए तुले हुए दानी के बीच होने वाले जिस तमाशे को देखा था वह महाकवि की लेखनी का स्पर्श पाकर उसके पाठकों के हृदयों पर युगयुगान्तर के लिए उत्कीर्ण हो गया। त्याग और निःस्पृहता का यह भाव एक बार भी जिस हृदय को छू गया, सदा के लिए उसमें स्थान बनाकर बैठ गया। यद्यपि आज के अर्थप्रधान युग में, ऐसे दानी और तपस्वियों के अभाव में ये सारी बातें किसी दूसरे लोक की ही लगती है।

**भवपूर्ण तथ्य–चित्रण –**

दूसरे सर्ग में तो कवि ने एक से एक सुन्दर भावचित्रों की झड़ी सी लगा दी है। दिलीप किस प्रकार श्रद्धा–भक्ति के साथ एकान्त रूप से नन्दिनी की सेवा में तत्पर हुए, वन में विचरण करते हुए उनका क्या रूप था, वन को जाते तथा लौटते समय उनका रूप क्या होता था–इसकी सुन्दर व्यंजना अनेक पद्यों में हुई है। नन्दिनी दिनभर इधर–उधर घूमकर सायंकाल के समय आश्रम के लिए लौट रही है इस भाव को कवि ने बड़े ही व्यंजक ढंग से प्रस्तुत किया है। नन्दिनी के आश्रम में लौटने के वर्णन के साथ–साथ सूर्य की प्रभा का विश्राम के लिए लौटने की बात कहकर उसने नन्दिनी की दिव्यता और पावनता के भाव की सुन्दर व्यंजना कर डाली है। तपोवन के मार्ग में धीरे–धीरे चलत हुए पृथु शरीरी दिलीप और पृथुस्तनी नन्दिनी का रूप देखते ही बनता है। नन्दिनी के पीछे–पीछे आते हुए राजा के दर्शनों की प्यासी रानी सुदक्षिणा की अपलक आँखों का जो चित्र कालिदास ने खींचा है, वह तो किसी चित्रकार की तूलिका से खींचे गये चित्र से किसी भाँति भी कम नहीं। कैसा भावपूर्ण चित्र है ! प्रातःकाल ही सुदक्षिणा ने नन्दिनी की पुष्पाक्षत से पूजा की, बछड़े को दूध पिलाया और जंगल में चराने के लिए ले चले। रानी आश्रम के बाहर तक पीछे–पीछे छोड़ने गई और फिर राजा ने स्नेह से उसे लौटा दिया। वह आश्रम में लौट आई। बड़ी उत्सुकता से दिनभर उनके आने की प्रतीक्षा करती रही। सांझ हुई, सूर्य पश्चिम की ओर बढ़ने लगा, रानी की दर्शन लालसा और भी बढ़ चली। उत्सुकतावश समय से पहले ही पूजा का सामान लेकर उनके स्वागत के लिए आश्रम के बाहर तक जा पहुँची। पर्याप्त प्रतीक्षा के बाद जब दर्शन की प्यासी आँखों ने वन की ओर से तपोवन के मार्ग पर धीरे–धीरे लौटती हुई नन्दिनी और उसके पीछे–पीछे ऐसे ही थके माँदे राजा को आते देखा तो वे उनके रूपको अपलक होकर अतृप्त सी पीती रही। उपर्युक्त पृष्ठभूमि में जब इस चित्र को देखते हैं तो हमारे सम्मुख दिलीप और सुदक्षिणा के दाम्पत्य स्नेह की एक मधुर झाँकी प्रतिफलित हो उठती है। इस क्षणिक पति–वियोग ने ही कितना आकुल कर दिया है उस 'अपांसुलानां धुरिकीर्तनीया' को और कितना स्नेह उमड़ पड़ा है उसकी आँखों में उस प्रिय पति के लिए जोकि उसकी गोद को ही देखने के लिए इस प्रकार व्रती बनकर नन्दिनी के पीछे वन–वन घूम रहा है।

**पृष्ठभूमि के साथ भावों का उभार**

दिलीप–सिंह–संवाद में तो कवि ने नाटकीयता के साथ मनोभावों का जो निरूपण किया है वह अद्‌भुत है। सारा प्रकरण पड़ते हुए ऐसा लगता है जैसे कि यह सब कुछ हमारे सामने एक रंगमंच पर घटित हो रहा है। दिलीप और सिंह के सबल व्यक्तित्त्व का चित्र सा खिंचता चला जाता है। हिमालय की उन अन्धकारभरी गुफाओं के बीच दिलीप ने अचानक उस नन्दिनी का आर्त्तस्वर सुना जिसके बारे में वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था कि उस पर कोई हिंसक जन्तु प्रहार भी कर सकता है (सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्त्रैरिति.)। घोड़े की लगाम की तरह झटका खाकर लौटी

हुई दृष्टि ने जब नन्दिनी के ऊपर सिंह को झपटते हुए देखा तो वह तिलमिला उठा और एकदम हाथ तूणीर की ओर बढ़ा। पर यह क्या ! वह तो वहीं बाण से ही चिपक गया। उस समय उसकी जो मनोदशा हुई उसका चित्रण कवि ने जिन शब्दों में किया उससे सुन्दर शायद हो भी नहीं सकता था। मन्त्र और जड़ियों के द्वारा कीलित शक्ति वाले विषधर से उसकी तुलना करके कवि ने हमें उसकी मनोदशा के निकटतम रूप का दर्शन कराने की सफल चेष्टा की है।

इसके बाद सिंह ने उससे जो कुछ कहा उसमें सिंह के रौबदाब के साथ–साथ जो क्रूर–ध्वनि निकलती है वह बड़ी मार्मिक है। प्रतिहतशक्ति के कारण इस प्रकार तिलमिलाते हुए दिलीप को देखकर सिंह कहता है –

अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्।
न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चय मूर्च्छतिमारुतस्य ।।

कैसी विडम्बना है! कालिदास ने जिसका 'क्षात्रधर्म का अवतार' कहकर परिचय दिया था, 'सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना' कहकर जिसकी प्रशंसा की थी, जिसकी सारी सरलताओं का श्रेय उसकी धनुष की डोरी को दिया था (1/16) और अभी–अभी धनुष को लेकर इन वनों में विचरण करते देखकर उसने कहा था कि मानो नन्दिनी की रक्षा के बहाने जंगल के दुष्ट जीवों को विनय की शिक्षा देता फिर रहा है। वही इस समय एक सिंह से गौ की रक्षा के लिए आकुल उसे देखकर सिंह ने मानो व्यंग्य भरे स्वर में उसे 'महीपाल' कहकर सम्बोधित किया। मानो कि वह कहना चाह रह हो कि हे पृथ्वी का पालन करने वाले 'समुद्रों की खाई से घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वी का एक नगर की भाँति पालन करना' और बात है पर एक गौ की पालना करना कुछ और ही बात है। अतः मही के पालन का श्रम तुम करते रहो पर गौ के पालन का श्रम वृथा ही होगा। इतना ही नहीं उसके विस्मय को बढ़ाता हुआ बोला– 'कि पहले तो तुम अस्त्र चला ही नहीं सकते। और यदि किसी प्रकार इसे चलाने में समर्थ भी हो गये तो तुम मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकते।' जब इतने से भी सन्तोष न हुआ तो फिर बोला–'पेड़ों को उखाड़ने की सामर्थ्य रखने वाला वायु का वेग पहाड़ को तो नहीं हिला सकता।' कितनी बड़ी चुनौती थी उसके स्वाभिमान को। सिंह ने तो उसके समस्त गौरव और स्वाभिमान को करारी ठोकर मारने में कोई कसर नहीं रखी थी, पर कालिदास ने बचा लिया उसे। दिलीप को अभी तक मालूम नहीं कि यह सिंह कौन है? पर जो भी हो वह अपने आप को पर्वत कहता है तो ठीक है। इसमें दिलीप की शक्ति को कोई अपमान नहीं। वह भी सामान्य शक्ति नहीं, लौकिक शक्ति श्रेष्ठतम रूप है यह तो सिंह भी स्वीकार करता है उसे वायु का वेग कहकर। और वह भी सामान्य वेग नहीं वरन् वह प्रबलतम वेग जो कि बड़े–बड़े महीरुहों को जड़ से उखाड़ फेकने की सामर्थ्य रखता है। महीधरों को न आज तक किसी ने धराशायी किया है और न कर सकेगा। फिर इस पर यदि वह महीधर को धराशायी नहीं कर सकता तो भला इसमें उसका अपमान ही किस बात का। प्रकारान्तर से मान की रक्षा हो गयी, ठीक है, पर धर्म की रक्षा तो नहीं हो सकी–यह भी तो उसके मन को और भी कचोट रहा था। क्षत्रिय होकर भी किसी शरण्य का 'क्षत से त्राण' नहीं कर पा रहा था। इस बात से उसे विशेष लज्जा का अनुभव हो रहा था। सिंह ने मानो उसके मन के इस भाव को उसके चेहरे पर पढ़ लिया और उसके मन के इसी भाव को दूर करने की भावना से उससे कहने लगा –

स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान् दर्शितशिष्यभक्तिः।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ।।

सिंह यदि इससे पूर्व अपना परिचय उसे न दे चुका होता तो निश्चित था कि उसकी यह उक्ति जले में नमक की तरह उसे मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाती। परन्तु भगवान् शंकर के प्रभाव के कारण वह अस्त्र प्रयोग नहीं कर पा रहा है इस बात को जानकर उसकी आत्मग्लानि कम हो गयी, उसे सिंह की यह बात विशेष रूप से चुभी नहीं। तो क्या एक इसी तर्क से उसके कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है? तर्क हमें निरुत्तर भले ही कर दे पर हमारी भावना को तो नहीं दबा सकता। किसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए मन में निश्छल भावना चाहिए, साधन तो अपने आप जुट जाते हैं। दिलीप के मन ने कहा–इतने से तेरा उत्तरदायित्त्व समाप्त नहीं हो जाता। अस्त्र से गाय की रक्षा नहीं कर सकता न सही, पर क्या शरीर से भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता ? सन्ततिहीन राजा के मन पर नन्दिनी के बछड़े का वह रूप उभर आया जोकि सायंकाल, माँ के आने की प्रतीक्षा के समय, हो जाया करता था। उसकी याद आते ही हृदय द्रवित हो उठा और जब आज गाय लौटकर न जायेगी तो उसकी क्या हालत होगी इसकी तो कल्पना भी मानो उसके लिए असम्भव थी। हृदय की तरलता की दशा में अन्य सभी हथियारों को डालकर वह अपने अन्तिम और अचूक हथियार पर आ गया। और सीधे ही सिंह के सामने प्रस्ताव हुआ –

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितं प्रसीद ।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः।।

अर्थात् इस गाय को मारने में आपका स्वार्थ तो केवल इतना ही है ना कि आप इससे अपने शरीर की भूख मिटाना चाहते हैं ? तो इस विषय में मेरा विनम्र प्रस्ताव है कि आप मेरे शरीर से अपनी भूख मिटा लीजिए और मुनि जी की इस गाय को छोड़ दीजिए क्योंकि अब शाम होने वाली है और इसका बछड़ा बड़ी उत्सुकता से इसकी बाट जोह रहा होगा।

राजा के इस कथन में करुणा तो सर्वोपरि है ही। पर एक बात जो विशेष रूप से सामने आती है वह है राजा का कर्तव्यभाव। राजा सन्तान के लिए स्वार्थवश नन्दिनी की सेवा–शुश्रूषा कर रहा था। पर भावावेश के इन क्षणों में एक क्षण को भी यह बात नहीं आयी कि यदि नन्दिनी को सिंह खा गया तो उसका तो कार्य ही असिद्ध हो जायेगा। सन्तति के अभाव में जिन पितरों का दुखड़ा उसने गुरु वशिष्ठ के सामने रोया था उसके इस प्रकार शरीर दान कर देने पर उनका क्या होगा जिसका कि नियमन, भरण–पोषण आदि के कारण वही पिता है। आवेश की स्थिति में मानवमन अन्य भावों से निरपेक्ष्य होकर किसी भाव विशेष में किस प्रकार वह निकलता है इस बात को कालिदास भली–भाँति जानते थे। अतः उन्होंने यहाँ भावान्तर को अवकाश ही नहीं दिया।

अब तक दिलीप ने जो कुछ कहा, वह भावावेश में किसी विशेष ध्येय के बिना भी कहा जाना सम्भव था। क्योंकि इसके अन्य पक्षों के विषय में सोचने का तो उसे अवसर ही नहीं मिल पाया था। अतः सिंह ने उसके समक्ष भावान्तर उपस्थित करना आवश्यक समझा। कालिदास ने यहाँ कुछ विशेष अभिप्राय से ही 'अर्थपति से बोला' (अर्थपति बभाषे) ऐसा प्रयोग किया है। राजा को याद दिलाने के लिए ही मानो कह रह हो–'हे राजन् तुम्हारी बात को सुनकर तो मुझे ऐसा लग रहा है जैसे कि तुममें विवेकशक्ति रही ही नहीं, कुछ आगा–पीछा तो सोचकर बोलो। भला इससे बड़ा पागलपन और

क्या हो सकता है कि आप एक छोटी सी चीज के लिए इतनी बड़ी राज्यशक्ति, ऐसी नौजवानी और ऐसे कमनीय शरीर को छोड़ देने पर उतारू हो गये हैं। जरा सोचिए तो सही आप क्या करने जा रहे हैं ? एक गौ पर तो इतनी दया और उन लाखों प्रजाजनों की कोई परवाह नहीं जो कि आपको पिता की भाँति मानते हैं और आप उन्हें पुत्र की तरह पालते हैं। 'प्रजा प्रजानाथ पितेव पासि' में शायद सिंह उसे सन्तति के प्रसंग की भी याद दिलाने की चेष्टा कर रह है। इसके साथ जितनी भी बातें सिंह ने दिलीप को समझाईं, वे सब उसके मन में द्वैधी–भाव उत्पन्न करने के लिए की गयी हैं। एक कुशल मनोवैज्ञानिक की भाँति कालिदास ने यहाँ मन की तहों के बीच घुसकर उसके पार के छिपे हुए भाव को प्रस्तुत करने का यत्न किया है। सिंह के तर्क इतने उचित (Convincing) से लगते हैं तथा उसने विभिन्न प्रसंगों को उपस्थित कर मनोभाव को विभक्त करने का ऐसा यत्न किया है कि पाठक एक बार तो स्वयं भी विचलित हो उठता है। कालिदास को भी शायद ऐसा लगने लगा था, इसीलिए उसने उस टूटते हुए भावसूत्र को गाँठ देकर कह दिया–कि राजा जब सिंह की बातों में ध्यान दे रहा था तो सिंह से आक्रान्त नन्दिनी कातर दृष्टि से उसे बराबर देख रही थी। दयालु राजा से उसका वह रूप न देखा गया। सिंह के तर्क और अन्यमनस्क करने वाली बातों से मन का वेग शिथिल होता या न होता पर नन्दिनी की कातर दृष्टि से उसे और भी प्रबल वेग से उभाड़ दिया। जब इतनी देर में प्रारम्भिक भावावेश तो उतर चुका था पर उसके स्थान पर अब सुचिन्तित लक्ष्य आ चुका था। अतः अब केवल 'इस गाय के बदले मुझे खा लो' वाली भावुक उक्ति के लिए स्थान नहीं था। तार्किक सिंह को तर्कों से ही मनवाना था, अतः भाव के साथ एक प्रबल तर्क सामने आया कि मैं क्षत्रिय हूँ, और क्षत्रिय शब्द का विश्वविदित अर्थ है दूसरों को नाश होने से बचाना। यदि यह ही नहीं हो सका तो फिर 'एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं' अथवा अपयश से कलंकित 'नवं वयः' अथवा 'कान्तं वपुः' से भी क्या लाभ? गौ भी सामान्य नहीं और तुमने कैसे इस पर आक्रमण किया यह भी मैं सब समझ ही गया हूँ (2/54) अब इस पर अधिक बहस करने की आवश्यकता नहीं, इसलिए दो टूक बात यह है कि अपना शरीर देकर भी मुझे इसकी रक्षा करनी ही चाहिए। इससे दोनों ही कार्य सिद्ध हो जायेंगे। आपकी शारीरिक क्रिया और अग्निहोत्री गुरु वशिष्ठ की धार्मिक क्रिया यदि मेरे एक शरीर के दान से निष्पन्न हो जाए तो इससे बड़े सौभाग्य की बात मेरे लिए और क्या होगी? यहाँ तक तो हुई तर्क की बात! पर दुनिया में सारे काम तर्क से ही नहीं हुआ करते हैं। तर्क की अपेक्षा भावना में अधिक बल होता है। हम किसी भी भावना को उद्‌बुद्ध कराकर जो काम करा सकते हैं वह उसे तर्क वा बुद्धि से कायल करके नहीं। अतः राजा दिलीप ने भी तर्क को छोड़कर सिंह की भावना को उद्‌बुद्ध करने का यत्न किया। बोला–यदि आप किसी कारण से मेरे इस शरीर को अहिंस्य समझकर मुझे खाना नहीं चाहते तो मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप मेरे यशःशरीर की तो रक्षा करो। इस शरीर ने तो आखिर एक न एक दिन नष्ट हो ही जाना है। आप नहीं करेंगे तो और किसी प्रकार से हो जायेगा। इसलिए मुझे इस नश्वर शरीर का कोई मोह ही नहीं। अतः एक मित्र की भाँति आप अपने हृदय से सोचिए तो सही कि मेरा अधिक कल्याण इस नाशवान् देह की रक्षा में है या अनन्तकाल तक अजर–अमर रहने वाले यशःशरीर में ?

दिलीप के मन–बुद्धि और हृदय की पूरी–पूरी तरह परीक्षा हो चुकी है। अतः सिंह उसके अनुरोध को मानने के लिए तैयार हो गया। कुशल कलाकार ने यहाँ इतने स्वाभाविक रूप में मनोभावों का चित्रण किया है कि उनका उतार–चढ़ाव बराबर दिखाई देता है। सम्पूर्ण रूप से कर्तव्य–भावना, आत्मत्याग और जीव रक्षा का जो भाव कवि ने इस प्रसंग में उभारा है, वह बड़ा ही जीवन्त है। विशेष रूप से कवि ने इस संवाद को जो नाटकीय रूप तथा मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रदान की है उससे इसका रूप और भी अधिक निखर उठा है तथा इसका प्रभाव और भी गहरा हो जाता है। मनोभावों को भी इस स्पष्टता तथा वैज्ञानिकता के साथ उभारा गया है कि सहृदय पाठक स्वयं भी आत्मविस्मृत हो उसी में बह निकलता है।

**वात्सल्य–भाव**

तृतीय सर्ग में रघु की बालसुलभ चेष्टाएँ मन को मोह लेती हैं। बालक रघु जब कुछ बड़े हुए तो वे धाय के सिखाए हुए शब्दों को अपनी तोतली वाणी में दुहराते, उसकी अंगुली पकड़कर ठुमक–ठुमक कर चलने की चेष्टा करते, सिर झुकाकर माँ–बाप को प्रणाम करते। उनकी इन बाल–चेष्टाओं को देखकर राजा दिलीप फूले न समाते थे। कालिदास की निरीक्षणदृष्टि बड़ी तीव्र थी। वह किसी भी ढेर में से पहली ही दृष्टि में उसके श्रेष्ठतम अंश को पहचान सकता है। बाल–जीवन की असंख्य लीलाएँ होती हैं। माँ–बाप को तो वे सभी प्यारी, मोहक ही लगती हैं। पर विश्लेषण करके देखा जाए तो वे केवल तीन ही श्रेणियों में आ जाती हैं। सुनीसुनाई ध्वनियों का तुतलाहट के साथ पुनरुत्पादन करना, स्वयं चलने की चेष्टा करना तथा माता–पिता के द्वारा सिखायी गयी शिक्षा का प्रदर्शन करना। बालक के माता–पिता जब बच्चे को तुतलाकर बोलने की चेष्टा करते हुए सुनते हैं, अथवा उसे घुटनों के बल वा सहारा लेकर चलने की चेष्टा करते हुए देखते हैं अथवा माता–पिता के द्वारा सिखाये गये 'नमस्कार', 'जयहिन्द', 'नमस्ते', 'टाटा', 'गुडमार्निंग' आदि की चेष्टाओं को दुहराते हुए देखते हैं तो उन्हें असीम आनन्द की अनुभूति होती है। उनका हृदय आनन्द से हिलोर लेने लगता है। सूक्ष्मदर्शी एवं मानव स्वभाव के परम पारखी कवि ने बाललीलाओं के दीर्घ वर्णन में न पड़कर उसके बालजीवन की तीन चेष्टाओं की ओर संकेत करके ही गागर में सागर भर दिया है। सूरदास जी ने सैकड़ों पद्यों में श्रीकृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन करके बाललीला के माधुर्य का जो सरस आभास कराया है वही कालिदास ने केवल एक पद्य से कर दिखाया। बोलने, चलने तथा चेष्टा करने से सम्बन्धित कैसी एक लीला और कैसी सैकड़ों लीलाएँ !

इतने दिनों की दीर्घ तपस्या, साधना और उत्कट अभिलाषा के बाद ऐसे तेजस्वी पुत्र को पाकर दिलीप को जिस आनन्द की अनुभूति हुई होगी वह तो अनिर्वचनीय ही होगा। महाकवि ने भी उसे अनिर्वचनीय ही रखकर केवल मात्र सहृदय पाठकों की अनुभूति के लिए छोड़ दिया है। हो भी क्यों नही, जब राजा दिलीप अपने शिशु–पुत्र को गोदी में लेते तो उसके स्पर्श से आनन्द–विभोर हो उठते। उन्हें ऐसा लगता जैसे कि उनके शरीर पर अमृत की फुहार बरस रही हो। वे आँखे बन्द कर उस अनिर्वचनीय आनन्द में डूब जाते। महाकवि ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से दिलीप के हृदयस्थ वात्सल्य का ऐसा जीवन्त निरूपण कर दिया जैसे कि स्वयं उसके हृदय में पैठकर उसकी अनुभूति को ही अभिव्यक्ति दे दी हो।

अश्व–संरक्षण के प्रसंग में वीर रघु ने इन्द्र को जो चुनौती दी है उसे सुनकर तो एक बार हमारे हृदय में भी दीप्ति का संचार हो जाता है। हमारा मस्तक गौरव से उन्नत हो उठता है जब हम देखते हैं कि एक मानव कुमार निर्भय गौरव रूप से हँसते हुए इन्द्र को ललकार कर कह रहा है– 'पुरंदर ! यदि आपने निश्चय कर लिया है कि आप अश्वमेध के घोड़े को वापस नहीं देंगे तो शस्त्र उठाइए और युद्ध के लिए तैयार हो जाइए। रघु को पराजित किए बिना आप उसका घोड़ा ले जायें, यह संभव नहीं हो सकता।' वीर पृथ्वी–पुत्र की वाणी से कितनी शक्ति, कितना ओज और कितना स्वाभिमान टपक रहा है। जरा कवि के 'पुरन्दर' शब्द के प्रयोग पर तो ध्यान दीजिए, वीर रघु किससे बातें कर रहा है, किसको ललकार रहा है। इन्द्र की महत्तम विनाशक शक्ति का ही परिचायक तो है न 'पुरन्दर' शब्द। पर आज एक मनु–पुत्र उसकी उस शक्ति को भी चुनौती दे रहा है।

## भावों का संश्लिष्ट चित्रण

राज्यारोहण के उपरान्त रघु के चढ़ते हुए प्रताप का वर्णन कवि ने जिस ओज और उत्साह के साथ किया है वह भी हमारे मन पर एक गहरी छाप छोड़ जाता है। शरद् वर्णन के बहाने बड़ी सुन्दर एवं संश्लिष्ट शैली में रघु के तेज, गौरव, लोकप्रियता एवं राष्ट्रीय समृद्धि का मनोरम चित्र खींच दिया है। एक नमूना देखिए–शरद् में धान की फसल पक चुकी है, कृषक बालाएँ समीपस्थ खेत में लगे हुए ऊँचे–ऊँचे ईख की छाया में बैठकर उनकी रखवाली करती हैं। और प्रजापालक महाराज रघु की बचपन से लेकर अब तक के क्रियाकलापों से सम्बद्ध कथाओं को मधुर गीतों की पंक्तियाँ बाँधकर बड़े अनुराग से गाती रहती हैं। देखिए कैसा संश्लिष्ट चित्र है। शरद् वर्णन भी हो गया, शस्य की समृद्धि का भी आभास मिल गया। रघु के कार्यों की लोकप्रियता भी प्रकट हो गयी और इसी से प्रकट हो गया देश की सुख, शान्ति और समृद्धि का भी रूप।

## स्थानीय रंजन के साथ भाव–चित्रण

रघु के दिग्विजय वर्णन में तो मानो एक–एक पद्य स्वयं में एक–एक नगीना है। प्रत्येक की अपनी अलग चमक और अलग रंग। देश के प्रत्येक भाग का निराला ही रूप है, और निराला ही रंग। कालिदास ने उनके ऐसे जीवन्त शब्द–चित्र खींचे हैं कि मानस–पटल पर अंकित हुए बिना नहीं रह सकते।

दिग्विजयी रघु विशालवाहिनी को लेकर बंग देश में पहुँचा तो उन्होंने जलयुद्ध में रघु का सामना किया, टिक नहीं सके, झुकना पड़ा, पर रघु ने भी उन्हें परास्त करके, अपनी अधीनता स्वीकार कराकर पुनः उन्हीं के पदों पर प्रतिष्ठापित कर दिया। रघु के इस व्यवहार का उन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे खूब अधिक उपहार लेकर रघु के चरणों में उपस्थित हुए। उनकी स्थिति एवं व्यवहार को बतलाने के लिए कवि को उसी प्रदेश की धान की खेती का उदाहरण मिल गया। चित्र सम्पूर्ण हो गया। एक छोटे से अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध पद्य में ही रघु की बंग पर विजय, बंग नरेश की पराजय, रघु द्वारा उसे पदभ्रष्ट करके पुनःस्थापन, उसके द्वारा रघु को प्रभूत उपहार प्रदान, बंगाल में धान की खेती का बाहुल्य, उसे एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान लगाने से उपज में वृद्धि आदि बहुत सी बातें कह दी गई हैं।

मलयाचल की तराइयों में मिर्च के तनों में रघु के सैनिकों से उद्भ्रान्त हारीत (4/46), महेन्द्र पर्वत पर रघु के सैनिकों द्वारा पान के पत्तों के दोनों पर ताजे नारियल के जल का पान, रघु के थके हुए घोड़ों द्वारा सिन्धु के तट पर केसर की क्यारियों में लोटनी लेना (4/47) वंक्षु के तट पर अंगूर की बेलों के कुंजों मे अंगूरी शराब का पान करके रघु के सैनिकों का युद्ध की थकान मिटाना (4/45) आदि अनेक चित्र ऐसे हैं जो कि सदा के लिए पाठक के हृदय पर अपना स्थान बना लेते हैं।

**बिम्बग्राही भाव–चित्रण**

'रघुवंश' का पंचम सर्ग तो भावचित्रों से भरा पड़ा है। प्रारम्भ में ही रघु–कौत्स का समस्त प्रकरण मन को एक अलौकिक भाव–जगत् का दर्शन कराकर मुग्ध कर डालता है। रेवा तट पर वन्य गज का चित्रण भी कम रमणीय नहीं। पर इसके अन्त में जाकर तो कालिदास की कलम ने कमाल ही कर दिया है। प्रातःकाल के समय कुमार अज को जगाने के लिए चारणों के द्वारा किया स्तुतिगान इतना मनोरम एवं भावपूर्ण है कि सहृदयों ने तो यहाँ तक कह डाला कि पद्य स्वयं वाग्देवी सरस्वती की रचना हैं। वस्तुतः यहाँ पर कवि ने भाव–सौन्दर्य की जो सृष्टि की है, वह अनोखी है। महाकवि माघ ने प्रभात–वर्णन में शिशुपालवध का एक पूरा सर्ग छत्तीस पद्यों के साथ समाप्त कर दिया। पर फिर भी प्रभात का वह मधुर एवं बिम्बग्राही चित्रण उपस्थित नहीं कर सका जो कि कालिदास ने इन पॉच श्लोकों में कर दिखाया है। विस्तारभय का भूत सिर पर सवार होने पर भी हम उस सौन्दर्य–राशि को यहाँ उपस्थित करने के लोभ का संवरण कर सकते है। वन्दिगण कहने लगे –

रात्रिर्गता मतिमतां वर मुंच शय्यां
धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता ।
तामेकतस्वत बिभर्ति गुरुर्विनिद्र–
स्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी ।। (रघु. 5/66)

(परम धीमन् ! रात बीत गयी है, अब शय्या छोड़िए। ब्रह्मा ने इस समस्त पृथ्वी का भार दो भागों में विभक्त किया है। उसे एक तो तुम्हारे जागरूक पिता सम्भाले हुए हैं और दूसरी ओर का भार आप पर टिका हुआ है।)

निद्रावशेन भवताप्यनवेक्ष्यमाण
पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ।। (रघु. 5/67)

(देखो, तुम्हें निद्रारूपी नायिका के वश में हुआ देखकर तुम्हारे मुख की सौन्दर्यलक्ष्मी खण्डिता– नायिका की भाँति रूठकर तुम्हारे मुख की सी शोभा धारण करने वाले चाँद को देख–देखकर रात बिताती रही। पर अब तो वह चाँद भी डूबने को तैयार है, अतः जागिए और बेसहारा होती हुई मुखशोभा को सहारा दीजिये।)

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्

सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।

प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्त–

श्च्यक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम्।। रघु. (5/68)

(आपकी बन्द पलकों के भीतर ऑखों की पुतलियॉ गतिमान् हो रही हैं और कमलकोषों के भीतर बन्द पड़े भौरें भी गतिशील हो उठे हैं। सूर्य उदित होने वाला है। अतः इस समय आप अपने नेत्र खोलें तो आपके नेत्रों की शोभा कमल सी और कमलों की शोभा आपके नेत्रों सी हो जाएगी–

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु–

निर्धौतहारगुलिकाविषदं हिमाम्भः।

आभाति लब्धपरभागतयाधरोष्ठे,

लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम्।। (रघु. 5/70)

वृक्षों के लाल–लाल पल्लवों पर गिरे हुए ये मोती से निर्मल ओस के कण ऐसे ही मोहक लग रहे हैं जैसे कि तुम्हारी मधुर मुस्कान के समय तुम्हारे आरक्त होठों पर पड़ने वाली तुम्हारी दन्तपंक्ति की आभा सुन्दर लगती है।)

भवति विरलभक्तिमनपुष्पोपहारः

स्वकिरणपरिवेशोद् भेदशून्याः प्रदीपाः।

अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता–

मनुवदति शुकस्ते मंजुवाक् पंजरस्थः।।(रघु. 5/74)

(रात की सजावट की माला के फूल कुम्हला जाने से विरल हो गये हैं। प्रातःकाल का प्रकाश फैल जाने के कारण अब शयनागार के दीपों का प्रकाष भी निस्तेज हुआ जा रहा है। यह पिंजड़े में बैठा हुआ मधुरभाषी सुग्गा हमारी उस विरुदावलि को दुहरा रहा है जो कि हम बन्दीजन आपको जगाने के लिये कर रहे हैं।)

यह वर्णन स्वयं में कितना भावपूर्ण है इसे बतलाने की शायद आवश्यकता नहीं। इसके शब्द–सौन्दर्य का आनन्द तो केवल मूल रूप में ही लिया जा सकता है। अनुवाद में तो वह आ ही नहीं सकता। अनुवाद में तो भाव भी सम्पूर्ण रूप से नहीं आ सकता फिर भाषासौष्ठव तो आ ही कैसे सकता है ?

इन्दुमतीस्वयंवरवर्णन में तो कालिदास ने भावचित्रों की झड़ी लगा दी है। एक सधे हुए कलाकार की भॉति उसकी लेखनी तूलिका जिधर को उठी है, उधर ही एक नवीन चित्र की सृष्टि कर डाली है। एक से एक बढ़कर और एक से एक सुन्दर। यह एक ऐसी एल्बम है जिसमें प्रत्येक चित्र अपनी पृष्ठभूमि के साथ चमक उठता है।

अज–दर्शनोत्सुक विदर्भ नारियों के चित्रण तथा अज–राजन्ययुद्ध के प्रसंग में भी कुछ सुन्दर भावचित्र कवि की लेखनी से उभरे हैं। ग्रन्थविस्तारभय से उन पर विचार कर सकना यहॉ सम्भव नहीं।

**कारुण्य का चित्रण–**

भावव्यंजना की दृष्टि से इसके बाद सबसे अधिक हृदय को प्रभावित करने वाला चित्रण है अष्टम सर्ग का अजविलाप। व्यंजना के आचार्य कवि ने वास्तविक विरह और शोक की स्थिति सामने लाने से पूर्व ही पाठकों को उसका सुन्दर आभास करा दिया है। 'वेगवान् मरुत्' के द्वारा नारद की वीणा के सिरे से स्वर्गीय पुष्पों की माला के हरण के बाद भी फूलों पर लगे हुए भौरों की पंक्ति की

सुगन्धि के कारण वीणा के आस–पास मॅडराते देखकर उनकी वीणा के काजल मिली हुई अश्रुधारा के रूप में उत्प्रेक्षा करने का भाव बड़ा ही बिम्बग्राही है।

इन्दुमती को गोद में रखकर अज ने अधीरतापूर्वक गद्‌गद् कण्ठ जो विलाप किया वह संस्कृत साहित्य में अपूर्व है। समस्त संस्कृत–साहित्य में पुरुष के प्रणय को इससे अधिक भावुक अभिव्यक्ति नहीं मिल सकी है।

कालिदास के कथानायक रघुवंश के जीवन में 'अज' को ही उसने प्रणय के आदर्श प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। कुछ आलोचकों को 'अजविलाप''रतिविलाप' तुलना में हीन लगता है। उनकी दृष्टि में पुरुषपात्र में ऐसी मानसिक दुर्बलता दिखलाकर कालिदास ने उचित नहीं किया है। इसलिये अज के प्रति उनकी सहानुभूति भी पूरी तरह जाग्रत् नहीं हो सकी है। पता नहीं ऐसे लोग प्रणय को तथा पुरुषहृदय को क्या समझते हैं ? जब आपको सामान्य जगत् में कालिदास का रघु नहीं मिल सकता, दिलीप नहीं मिल सकता, इन्दुमती नहीं मिल सकती, पुरूरवा नहीं मिल सकता, शकुन्तला नहीं मिल सकती, पार्वती नहीं मिल सकती, यक्ष नहीं मिल सकता तो फिर अज को ही ढूँढने का प्रयत्न क्यों करते हैं ? समझ लीजिये, अज पुरुष प्रेम की उच्चतम भावना है जिसे कि कालिदास प्रस्तुत कर सका है। ऐसा प्रेमी न कोई और हुआ है और न कोई होगा ही। संसार के प्रणयी पुरुष उस दूरस्थ सीमा रेखा की ओर सदा सतृष्ण नेत्रों से देखते रहेंगे और उसे पाने के लिये कदम बढ़ाते रहेंगे। लगता है कालिदास को आने वाले व्यवसायी युग के लोगों की यह आपत्ति दीख रही थी। इसीलिये अज के भाव विभोर होकर रुदन करने की बात के साथ ही उसने कह दिया कि अत्यधिक तपाये जाने पर तो लोहा भी पिघल उठता है। फिर यह तो धड़कनषील मानव हृदय है, वह क्यों न पिघलेगा ? लौहयुग के लोगों के लिये इससे बढ़िया उदाहरण और हो भी क्या सकता था ?

इसके बाद तो अज की भावनाओं में जो उफान आया है वह सहृदय पाठक के हृदय को निरन्तर डुबाता जाता है। बस यही कहने को जी करता है–

'अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग। हृदय हाहाकार कर उठता है।

कितना भावुक था अज का प्रणयी हृदय! कितनी हृदयस्पर्शी वेदना टपकती है उनके इन शब्दों से ! मृत प्रेयसी के दाहसंस्कार का स्मरण आते ही सिहर उठती है उनकी आत्मा इस विचारमात्र से ही कि उस कुसुमांगी इन्दुमती का शरीर जो कि कोमल पल्लवों के बिछौने पर भी दुखने लगता था कठोर काष्ठ की चिता पर कैसे लेट सकेगा। प्रणय का उन्माद ऐसा ही होता है। इसे ही कहते हैं प्यार। जो विवेकहीन न बना दे, वह प्यार कैसा ?

एक और कोमल भाव देखिये। अज की दृष्टि जब सामने ही उस अशोक वृक्ष पर जाती है जिसका कि रानी इन्दुमती ने अपने वामपाद के आघात से दोहद सम्पन्न किया था तो उसका शोक और उमड़ पड़ता है। वह भाव–विह्वल हो उठता है। ठीक भी है, इस अशोक के जिन फूलों से वह प्रिया के अलकों को अलंकृत करता उन्हें अब वह उसके तर्पण के जल के साथ कैसे रखेगा। क्या उसकी ऑखें इस दृश्य को देख सकेंगी ? क्या इसे देखकर उसका हृदय विदीर्ण न हो जायेगा ? वाह री विधि विडम्बना !

ठीक ही है आज से प्रणयी अज के जीवन से धैर्य, आनन्द, संगीत, उत्सव, अलंकरण, शयन सब कुछ समाप्त हो गया। क्योंकि निर्दयी मृत्यु ने उससे उसकी गृहिणी, सलाहकार, सखी, प्रियशिष्या सभी को छीन लिया। ऐसे बदकिस्मत कौशलनरेष को प्रिया के आत्यन्तिक वियोग में अपने हृदय के टुकड़ों को पागलों की तरह से इधर उधर बिखेरते देखकर यदि उपवन के वृक्ष भी ऑसू बहाने लगें तो आश्चर्य भी क्या ? विधाता ने अज के साथ बड़ा ही क्रूर खिलवाड़ किया। वह या तो उसे ऐसा प्रणयी हृदय ही न देता या उसके भाग्य में यह अप्रत्याशित अनभ्र वज्रपात ही न लिखता। फिर भी यदि आज का आलोचक उसके साथ सहानुभूति प्रकट नहीं कर सकता तो इसे उसका जन्मान्तर का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा। ऐसे हृदयविहीन आलोचकों से तो साकेत की ये नारियॉ ही अधिक प्रशंसनीय हैं जो कि प्रेयसी वियोग के कारण प्रातःकालीन चन्द्रमा के समान कान्तिहीन अज को देखकर इस कदर रोईं थीं कि ऑसुओं के नाले बह चले थे। धन्य है महाकवि की लेखनी को जिसने इतने विक्षिप्त करने वाले शोक और सन्ताप के बीच में भी इस प्रणयी पुरुष की ऑसुओं से गीली कहानी को लिख दिया। शायद ऐसे ही व्यक्तियों को सामने रखकर तो भवभूति ने कहा होगा–

वज्रादपि कठोराणि मृदुनि कुसुमादपि।

लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति।।

## दार्शनिक भावचित्रण

इसके बाद तो इस सर्ग के अन्त में कवि ने दार्शनिक भावों की जो गूढ व्यंजना कराई है उसके बारे में तो यही कहना उचित होगा–'अरथ अमित अति आखर थोरे।' जीवन और मृत्यु के समस्त रहस्य को कवि ने केवल प्रकृति और विकृति इन दो शब्दों में बॉधकर रख दिया है। गुरु वसिष्ठ का सन्देशवाहक शिष्य कहता है– विद्वानों का कहना है कि इस सृष्टि में जिसने यह पंच भौतिक चोला पाया है उसको यह छोड़ना तो निश्चित ही है। यही स्वाभाविक रूप भी है। उस प्रकृति का विकार तो है जीवित रहना। इसलिये प्राणी जितने क्षण भी जी जाय, उसे ही उसे जीवन का लाभ समझना चाहिये। शोकसन्तप्त मानव को शायद इससे बढ़कर सान्त्वना और श्रेय का उपदेश नहीं दिया गया।